दिनेश पाठेश्वर

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

जागृति प्रकाशन, नोएडा २०१ ३०१

चिन्तन पाथेय

चिंतन पाथेय

श्री गुरुजी के समग्र जीवन विषयक विचारों का एक विवेचन

दo बाo ठेंगड़ी

जागृति प्रकाशन, नौएडा

अंतरराष्ट्रीय मानक पुस्तक संख्या

ISBN:81-86719-31-8

प्रकाशक
जागृति प्रकाशन
एफ-१०६, सेक्टर-२७,
नोएडा-२०१३०१
दूरभाष : ०१२०-२५३८१०१

प्रथम संस्करण : युगाब्द ५०६३, विक्रमाब्द २०४८, सन् १९९१
द्वितीय संस्करण : युगाब्द ५१०६, विक्रमाब्द २०६१, सन् २००४

मूल्य : ७.००

मुद्रक : नीति प्रिंटिंग सर्विस, पंचशील गार्डन, शाहदरा, दिल्ली-32

CHINTANA PATHEYA (Hindi)
By D.B. Thengadi
Rs. 7.00

प्रकाशकीय

परम पूजनीय श्रीगुरुजी (माधव सदाशिव गोलवलकर) ने सर्वस्पर्शी, भारतीय भूमि में से उत्पन्न, समग्र जीवन के विचारों का सम्यक् दर्शन किया था और द्रष्टा की भाँति उसे दूसरों को भी कराने का जीवन पर्यन्त प्रयास किया था। ये विचार समय-समय पर उनके भाषणों आदि में तो प्रकट होते ही रहे हैं, विभिन्न व्यक्तियों के साथ वार्तालापों में वे अधिक स्पष्ट और उभरकर सामने आते रहे हैं।

श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी विभिन्न विषयों पर उनसे अनेक बार विचार-विमर्श करते रहते थे। अतः वे श्रीगुरुजी के विचारों के अधिकारी प्रवक्ता हैं।

५ जून १९७३ को श्रीगुरुजी अपनी इहलोक यात्रा समाप्त कर गए थे। तदुपरान्त फाल्गुन कृष्ण ११, विजया एकादशी संवत् २०३० (१७ फरवरी, १९७४) को उनकी ६९वीं जन्म-तिथि के अवसर पर श्री ठेंगड़ी का महाराष्ट्र में एक भाषण हुआ था, जो उस समय मराठी में प्रकाशित हुआ था। भोपाल के श्री बापूराव सरदेसाई जी ने इसे अत्यन्त उपयोगी पाया और तुरन्त इसका हिन्दी रूपान्तर कर दिया।

ज्येष्ठ, श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध श्री बापूराव सरदेसाई का आरम्भ

से ही जागृति प्रकाशन पर वरद हस्त रहा है। वे अपने अमूल्य कोष में से ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसी सामग्री निकालते हैं, जो जागृति प्रकाशन की परम्परा के अनुकूल हो, समानुकूल हो और लोकोपयोगी हो।

इसका अनुवाद तो १९९० के आरम्भ में ही हमें प्राप्त हो गया था, किन्तु कुछ कठिनाई वश यह उस समय प्रकाशित न हो पाया। अब इसे पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

प्रैस में देने से पूर्व हमने श्रीमान् ठेंगड़ी जी से प्रार्थना की कि वे एक बार पुनः इसे देख लें और इसमें उपयुक्त संशोधन व परिवर्धन करना चाहें तो कर देवें। अत्यन्त व्यस्त रहने के बावजूद उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार की और इसे आद्योपान्त पढ़ा तथा प्रकाशनार्थ अनुमति दी। इस प्रकार अब यह मात्र अनुवाद नहीं, अपितु श्री ठेंगड़ी जी की मूल कृति ही समझनी चाहिए।

अपनी बात

मेरे मित्र श्री दत्ताराम वझे के अनुग्रह से 'चिन्तन सामग्री' नामक यह पुस्तिका, जो महाराष्ट्र से प्रकाशित हुई थी, सप्रेम भेंट के रूप में बहुत वर्ष पूर्व मुझे मिली। पढ़ने-पढ़ाने के बाद वह रखी रह गयी।

अभी सहज अपने साहित्य भण्डार को किसी खोयी पुस्तक के लिए खोजते समय यह दृष्टिगत हुई। अब लगा इसे हिन्दी में अनूदित कर आपकी सेवा में प्रस्तुत किया जाय।

मित्रवर श्री सागरजी ने प्रोत्साहन दिया और मेरे जैसे दीर्घ-सूत्री व्यक्ति के हाथों से अनुवाद कार्य पूर्ण होकर 'चिन्तन पाथेय' के नाम से यह विचार-धन आपके हाथ में है।

"फोड़ा है भण्डार। स्वामी का यह माल। मैं तो भारिक। भारवाही।"

मकर संक्रान्ति,
माघ कृ० ३, २०४६ वि०
१४ जनवरी, १९९०

—विद्याधर ब० सरदेसाई
अ/१२३, मानस सरोवर
भोपाल, मं० प्र०, ४६२०१६

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां ज़गत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

चिन्तन पाथेय

श्री गुरुजी द्वारा प्रतिपादित समग्र विचार-दर्शन की ओर सांकेतिक दृष्टि से देखने का यह एक छोटा-सा प्रयास है। ऐसी कल्पना है कि उन्होंने जो विचार हमें दिए उनका संक्षेप में दर्शन करें। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रासंगिक एवं स्थायी विचारों में से केवल स्थायी विचारों का ही हम यहाँ चिन्तन करेंगे।

उन्होंने जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया था और वास्तव में इस विषय पर कुछ कहने का अधिकार उसी को है जिसने उनके उस विचार को सुचारू रूप से समझा हो। अपने यहाँ ऐसी धारणा है कि सच्चा दर्शन केवल बौद्धिक स्तर पर नहीं हो सकता। गीता ने कहा है–"यो बुद्धेः परतस्तु सः"। ऐसा व्यक्ति ही द्रष्टा हो सकता है और जिनकी वह योग्यता नहीं, उन्हें वह दर्शन सम्भव नहीं है। स्वयं श्रीगुरुजी जिस स्थिति में थे, उस स्तर पर से उन्होंने जीवन का दर्शन किया और हम लोगों के लिए कुछ विचार दिए। श्रीगुरुजी के विचार केवल बौद्धिक तल पर रहने वाले नहीं थे। उनके ज्ञान की पहुँच बुद्धि के भी परे थी। उन्हें ज्ञान का साक्षात्कार होता था (the knowledge flashed upon him)।"

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यै ते कथिताऽह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

ऐसा था उनका ज्ञानस्तर !

श्रीगुरुजी का दर्शन समग्र था, सर्वंकष था और एकात्म (integrated) था । उनके विचार दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं । उन्होंने विभिन्न अवसरों पर प्रसंगानुरूप राष्ट्र के लिए मार्गदर्शक विचार व्यक्त किए । उन प्रसंगों की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से वे विचार निश्चित ही महत्वपूर्ण थे । परन्तु इनके अतिरिक्त उन्होंने स्थाई दर्शन भी हमारे सम्मुख रखा है । यहाँ हमें केवल स्थायी विचारों का ही विवेचन करना है ।

विचारों के वर्गीकरण का स्वरूप

आधुनिक प्रगतिशील चिन्तन के अनुसार कोई बात या तो ठीक होगी या फिर गलत होगी । परन्तु श्रीगुरुजी मानते थे कि किसी विचार का वर्गीकरण केवल 'ठीक' या 'गलत' ऐसा करना उचित नहीं है । वास्तव में तो 'ठीक', 'अधिक ठीक', 'और अधिक ठीक' (right, more right, still more right) ऐसा वर्गीकरण होना चाहिए । इसी प्रकार 'सत्य', 'श्रेष्ठ सत्य', 'और श्रेष्ठ सत्य' (truth, higher truth, still higher truth) ऐसा कहना ही उचित होगा । जैन दर्शन के 'स्याद्वाद' के अनुसार श्रीगुरुजी की चिन्तन पद्धति थी ।

इसी प्रकार यह भी ध्यान रखना होगा कि श्रीगुरुजी के विचारों को आजकल के 'क्रान्तिकारी, अपक्रान्तिकारी, क्रान्ति-विरोधी, उत्क्रान्तिवादी (revolutionary, Counter-revolu-

tionary, anti-revolutionary, evolutionary) आदि वर्गीकरण में नहीं बिठाया जा सकता ।

साधनानाम् अनेकता

इस प्रकार सर्वंकष विचार करने वाले लोग हमारे देश में क्या और विदेशों में क्या, बहुत इने-गिने ही हुए हैं । इन सब लोगों ने जब जीवन के सम्बन्ध में समग्रता से विचार किया, तब अपने आप उन सबके सामने जो प्रथम प्रश्न उपस्थित हुआ और जिसका उत्तर उन सबको देना पड़ा, वह था—'यह जो अस्तित्व है, वैश्विक रचना है, वह कहाँ से निकली है और किधर जा रही है ?' अंग्रेजी में इसे Cosmology (वैश्विकी) कहते हैं । तपश्चर्या के आधार पर इस बारे में हमारे ऋषि मुनियों ने कहा—'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' । इसके अनुसार यद्यपि सभी श्रेष्ठ महाभाग एक ही परम सत् तत्व पर पहुँचे, फिर भी उन्होंने उसका वर्णन भिन्न-भिन्न शब्दों में किया है । यह जो चैतन्य है उसे केन्द्र मान कर सब विचार होने चाहिए, आचार होने चाहिए, रचना होनी चाहिए; और इस परम तत्त्व का उसके लिए साक्षात्कार होना आवश्यक है । ऐसी अपनी हिन्दू परम्परा के अनुसार श्रीगुरुजी की धारणा थी । इस साक्षात्कार को प्राप्त करने के मार्गों में अत्यन्त विविधता है, 'साधनानाम् अनेकता' है । कोई भी एक साधन या साधना ठीक और अन्य सब गलत, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

न्यूनतम आचारधर्म

परन्तु जन-साधारण के लिए कोई न कोई आचारधर्म होना चाहिए, उसके बिना नहीं चलेगा । कतिपय श्रेष्ठ पुरुषों ने ऐसे

किसी आचारधर्म का निषेध किया। उनका कहना था कि यह तो बुद्धि से समझने की बात है, उसके लिए कर्मकाण्ड (rituals) की आवश्यकता नहीं है। ऐसे कुछ श्रेष्ठ पुरुष हो सकते हैं जिन्हें कर्मकाण्ड, यम-नियम अनावश्यक लगें। श्री जे० कृष्णमूर्ति का यही मत था। श्रीगुरुजी का कहना था कि स्वयं श्री कृष्णमूर्ति अथवा उनकी श्रेणी के लोगों के लिए शायद यह बात ठीक होगी, किन्तु कर्मकाण्ड के बिना साक्षात्कार प्राप्त करना जन-साधारण के बूते की बात नहीं। इसलिए आत्म-संयमन (Self-discipline) हेतु कोई न कोई आचारधर्म प्रत्येक के लिए आवश्यक है। इस आचारधर्म का कुछ वर्ष तक काँटा-तोल पालन करने के बाद ही मनुष्य उपरिलिखित अवस्था प्राप्त कर सकता है। जिसे अपने यहाँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमहंस कहा गया है, उसके लिए आचार धर्म की आवश्यकता नहीं है; सामान्य नियम के नाते आचार-धर्म होना चाहिए, ऐसा श्रीगुरुजी का मत था। अपने स्वयं के जीवन में भी इसी दृष्टि से उनका आचरण रहता था।

पथ्यमय जीवन

इस पर भी उन्होंने अपने जीवन में एक पथ्य का पालन चिन्तापूर्वक किया। जब तक विचार न किया जाय, यह बात सहसा ध्यान में नहीं आती थी। भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस के शिष्य और स्वामी विवेकानन्द के ज्येष्ठ गुरुबन्धु स्वामी श्री अखण्डानन्द श्रीगुरुजी के आध्यात्मिक गुरु थे और जीवन के अन्त तक यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध उन्होंने रखा भी था। किन्तु इस गुरु-शिष्य सम्बन्ध, रामकृष्ण मिशन से सम्बन्ध, आचारधर्म विषयक व्यक्तिगत आग्रह आदि किसी बात का उच्चार दूसरों

से बोलते समय कभी उन्होंने किया नहीं। आध्यात्मिक सम्प्रदाय के नाते लोगों को उस ओर प्रवृत्त करने की स्वाभाविक इच्छा भी उन्होंने कभी दर्शायी नहीं। इस विषय को उन्होंने अपने तक ही सीमित रखा। वरंच, संवत् २०१५ के गुरु पूर्णिमा समारोह के अवसर पर बोलते हुए उन्होंने एक विशेष बात कही थी: "अपने यहाँ गुरु-शिष्य का नाता अति पवित्र माना गया है; परन्तु संगठन का कार्य करते समय यह विवेक रखना होगा कि व्यक्तिगत जीवन का यह पवित्र नाता बाधा न बने।" और इस विवेक को रखकर ही उन्होंने व्यक्तिगत जीवन में वह साधना की थी।

मानव एवं प्रकृति

उच्चस्तर के इस विचार के बाद हमारे सामने मुख्य प्रश्न आता है कि यह जो समस्त दृश्य सृष्टि है, उसका मानव से क्या सम्बन्ध है। पश्चिम में एक प्रभावी (predominant) विचार है कि मानव ही सर्वश्रेष्ठ है। समग्र सृष्टि मानव के लिए है। अतः मानवेतर जो कुछ सृष्टि है, जिसे हम स्थूल रूप में चेतन-अचेतन कहते हैं (यथार्थ में तो सभी चेतन है), उस समग्र सृष्टि पर मानव को विजय प्राप्त करनी है। श्रीगुरुजी जब उच्च माध्यमिक विद्यालय में पढ़ते थे, तब उनके पाठ्यक्रम में "Conquest of Nature" नामक एक पुस्तक थी। यह जो Conquest of Nature अर्थात् प्रकृति पर विजय की कल्पना है, उसमें मानो प्रकृति और मनुष्य में एक संघर्ष है और संघर्ष में मानव को प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी है, ऐसा अभिप्राय है। श्री गुरुजी का कहना था कि संघर्ष की यह कल्पना उचित नहीं है। प्रकृति और मानव में परस्पर

सहयोग हो, दोनों परस्पर पूरक और पोषक हों—इसी में मानव का कल्याण है। इस दृष्टि से प्रकृति के साथ मानव के सम्बन्ध और व्यवहार आक्रमण और विजय के नहीं, अपितु सह-अस्तित्व और सहयोग के तथा परस्पर पूरक होने चाहिएँ, ऐसा श्रीगुरुजी का प्रतिपादन रहता था। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा मानव के लिए घातक होगी। अपने लाभ के लिए प्रकृति को अधिक से अधिक जोतने, उसका शोषण (exploitation) करने की जो वृत्ति पश्चिम में बनी है, उसके कारण प्रकृति और मानव के बीच का समतोल (Balance) वहाँ खो गया है। श्री गुरुजी सोचते थे कि भविष्य में मानवजाति के लिए यह अत्यन्त कष्टप्रद होगा। मानव द्वारा प्रकृति का यह विवेकहीन और अनियंत्रित शोषण (indiscriminate, unrestrained exploitation) हानिकारक ही होगा।

प्रकृति का दोहन करें, शोषण नहीं

दो प्रकार से हम प्रकृति का प्रयोग करते हैं। प्रकृति से हम कुछ ऐसी वस्तुएँ लेते हैं जिन्हें प्रकृति बार-बार निर्माण करती है। उदाहरण के लिए फल, फूल, पत्ते आदि सब वस्तुएँ प्रकृति में बार-बार उत्पन्न होती हैं। परन्तु कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका पुनर्निर्माण (reproduction) प्रकृति में होता नहीं, अर्थात् जिनका संचय सीमित है, जैसे खनिज पदार्थ, तेल, प्राकृतिक गैस आदि। जिन वस्तुओं का पुनर्निर्माण होता है उनका हम यथेष्ट उपयोग कर सकते हैं, पर जिनका पुनर्निर्माण नहीं होता, उनका प्रयोग संयम से किस प्रकार करना चाहिए, इसे समझने के लिए गोदोहन की प्रक्रिया देखने योग्य है। हम गाय का दोहन करते हैं। दूध

निकालते हैं। दोहन में हम गाय के स्तन नहीं काट लेते अथवा उसका पूरा दूध रक्त सहित नहीं निकाल लेते। प्रत्युत गाय के बछड़े को भी पेट पर दूध मिले, गाय जीवित और पुष्ट रहे, यह ध्यान रख कर हम दूध लेते हैं। इसी प्रकार प्रकृति का भी दोहन (milking the Nature) होना चाहिए। इसी में अन्तिम कल्याण है, ऐसा श्रीगुरुजी का मत था। इसलिए उन्होंने यह भय प्रकट किया था कि तेल, खनिज आदि द्रव्यों का पश्चिम में, और हमारे यहाँ भी, आज जो अनिर्बन्ध प्रयोग हो रहा है, उसके कारण कल ऊर्जा-संकट (energy crisis) उत्पन्न होगा। आज हम अनुभव कर रहे हैं कि उनका भय अक्षरश: सत्य था।

मानवेतर जीवसृष्टि

प्रकृति और मानव का परस्पर सम्बन्ध जिस प्रकार विचारणीय विषय है, वैसे ही मानव और मानवेतर सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध भी विचारणीय विषय है। इस विषय में पश्चिम के कुछ इने-गिने विचारक छोड़ दें, तो उधर प्राय: समग्र विचार मानव-केन्द्रित (homo-centric) है अर्थात्, समग्र संसार या अस्तित्व नाम से जो कुछ है, उसका केन्द्र है मानवजाति। मानव के उपयोग और उपभोग के लिए ही यह सब है, ऐसा समझकर अपना सब विचार और आचार करना। इस आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति (homo-centricism) को उचित नहीं माना जा सकता। प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व को विचार का केन्द्र मानकर समग्र विश्वरचना में मानव का जो स्थान है उसका आनुपातिक-बोध (sense of proportion) रखकर तदनुसार मनुष्य का विचार करना चाहिए। मानव सर्वप्रमुख है, केन्द्र है, और उसके लिए ही समग्र

विश्व अथवा अन्य जीवसृष्टि है, यह चिन्तन उचित नहीं है। श्रीगुरुजी तो उस अन्तिम तत्व, चैतन्य को ही केन्द्र मानकर उसे सर्वश्रेष्ठ स्थान देते थे। अतः मानवेतर जीवसृष्टि की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण पश्चिम से नितान्त भिन्न है।

भावी-पीढ़ी का भी विचार

मानवजाति का विचार करते हुए श्रीगुरुजी को लगता था कि उसमें भी एक विशेष दृष्टि से पश्चिम में समतोल नहीं रखा गया है। आज जो लोग जीवित हैं वे यदि केवल अपनी या अपने तुरन्त बाद की पीढ़ी भर का ही विचार करेंगे और कालान्तर से आने वाली पीढ़ियों का विचार नहीं करेंगे—जब तक हम हैं तब तक सब वस्तुओं का यथेष्ट उपभोग कर लें, आगे जो होना हो सो हो, ऐसी प्रवृत्ति रखेंगे—तो वह मानवजाति के लिए अन्ततोगत्वा हानिकारक होगा।

सुखोपभोग अथवा ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिए आजकल जो वैज्ञानिक अनुसंधान और अन्वेषण हो रहे हैं, उनके विषय में वे सोचते थे कि विज्ञान की प्रगति जितनी होगी, अच्छा ही होगा। क्योंकि यदि विज्ञान अधिकतम प्रगत होगा तो वह भी, अन्य मार्ग से उसी अन्तिम तत्व तक जा पहुँचेगा, जिसका साक्षात्कार हमारे आध्यात्मिक द्रष्टाओं ने किया था। यदि भौतिक अनुष्ठानों (experiments) पर अत्यधिक निर्भर होने के कारण वह अन्तिम तत्व तक न भी पहुँच पाये, तो कम-से-कम अपनी मर्यादाओं का ज्ञान तो उस विज्ञान को होगा ही। दोनों दृष्टियों से विज्ञान की अधिकतम प्रगति उन्हें अभीष्ट थी। परन्तु लम्बे भविष्य का विचार सामने रख कर यदि वैज्ञानिक अन्वेषणों

का प्रयोग हुआ, तभी आगे बढ़ने के लिए समर्थ साधन प्राप्त होगा—एक प्रकार का प्रकृति का समतोल (balance) बनेगा। मानव, वायुमण्डल, प्रकृति, अर्थ आदि शास्त्रों और विज्ञान के बीच तालमेल रहेगा। यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र, नीति-शास्त्र और पर्यावरणशास्त्र (Economics, Ethics and Ecology) का समग्रता से विचार हो। यदि इनका अलग-अलग विचार हुआ तो एक-दूसरे को हानि पहुँचेगी।

पर्यावरण शास्त्र और अर्थशास्त्र का समग्रता से विचार न होने से औद्योगिक राष्ट्रों के सामने कौन से प्रश्न उपस्थित हुए हैं ? जो प्रश्न उत्पन्न हुए हैं और जिनकी आँच आज हमें भी पहुँच रही है, उनकी कल्पना श्रीगुरुजी ने बहुत पहले की थी। इसीलिए वह आग्रह से कहते थे कि विचार समग्रता से (integrated) हो, केवल एक पीढ़ी का विचार करने से काम नहीं चलेगा।

संघर्ष नहीं, सहयोग

संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न लोग रहते हैं। उनकी विकास की अवस्थाएँ अलग-अलग हैं। कुछ ने राष्ट्र का स्वरूप प्राप्त कर लिया होगा तो कुछ ने न भी किया होगा। इन विभिन्न प्रकार के राष्ट्रों अथवा लोगों में मानवजाति की न्यून-तम रचना कैसी हो ? सर्वत्र मानवीय रचना का आधार सह-योग (Co-operation) हो, स्पर्द्धा अथवा संघर्ष (Competetion or Conflict) न हो। समूची मानवजाति में यदि सहयोग रहा तो सबका कल्याण होगा। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर कि राष्ट्रों के मध्य स्पर्द्धा उत्पन्न होने से युद्ध के अवसर आते ही

हैं। प्रत्येक राष्ट्र को युद्ध की क्षमता रखनी चाहिए। हमारा राष्ट्र भी क्षात्रधर्म की उपासना और संवर्धन करे, यही यथार्थ-वादिता होगी। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि समग्र मानवजाति की प्रगति की दृष्टि से युद्ध टल सके तो अच्छा है।

युद्ध-पिपासा विरहित क्षात्रधर्म

राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों के विषय में दो परस्पर-विरोधी अतिवादी विचार हमारे सामने आये हैं। एक है आत्यंतिक अहिंसा का। स्वातंत्र्यवीर सावरकरजी ने 'संन्यस्तखड्ग' नामक अपने नाटक में उसका विवेचन किया है। उसमें इस विचार का मण्डन किया है कि वर्तमान स्थिति में आत्यंतिक अहिंसा राष्ट्र के लिए घातक है। दूसरा अतिवादी विचार पश्चिम में नीत्शे ने रखा है। बिस्मार्क, हिटलर, मुसोलिनी आदि ने उसका आधार लेकर अनुकरण किया है। वह विचार है—'युद्ध मानव-जाति की प्रगति के लिए अनिवार्य है'। इस विचार का सार बताते हुए श्री ह० बा० देशपाण्डे ने एक पुरानी काव्यपंक्ति में कुछ परिवर्तन कर कहा कि, "युद्ध से ही पाई मनुज ने श्रेष्ठता। युद्ध से अप्राप्य कुछ नहीं।" इस विचार से प्रभावित थे बिस्मार्क, हिटलर, मुसोलिनी। वास्तव में वह युद्ध उपकारी और परि-णामकारी रहता है, जो मनुष्य के मन में चलता है। वही युद्ध अथवा संघर्ष गुणवत्ता में सर्वश्रेष्ठ होता है। श्री सन्त तुकाराम ने इसी दृष्टि से कहा है— 'अहोरात्र हमारा युद्ध से पाला पड़ता है।' ऐसा युद्ध यथार्थ में मनुष्य की श्रेष्ठता की कसौटी है। परन्तु विभिन्न राष्ट्रों के मध्य युद्ध होना मानवता के लिए घातक है। इससे बचना चाहिए। परन्तु हम भले ही युद्ध न चाहें, हमें

युद्ध की क्षमता के लिए क्षात्रधर्म का सम्पोषण अवश्य करना चाहिए।

विश्व राज्य

आज विभिन्न राष्ट्रों में स्पर्द्धा है। मानवी प्रयासों का अधिकांश भाग पुनरावृत्ति (duplication) अथवा अनेकावृत्ति (multiplication) में व्यर्थ जा रहा है। वास्तव में यदि परस्पर सहयोग से समग्र संसार चले, तो एक उत्तम जागतिक नियोजन (world planning) तैयार किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आर्थिक क्षेत्र का यदि विचार करें, तो संसार के जिस भाग में जो वस्तु अल्प व्यय और श्रम से उत्पन्न हो सकती है, वह वहाँ समग्र संसार के जनों के लिए निर्माण की जाय और संसार के सभी राष्ट्रों को उनकी आवश्यकतानुरूप उसका वितरण किया जाय। आज 'एक संसार' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना न होने के कारण प्रत्येक राष्ट्र उस वस्तु को अपने यहाँ निर्माण करने के लिए विवश है। प्रकृति की सुलभता न होने से व्यय भी अधिक होता है और मानवी श्रम भी अधिक लगता है। परस्पर सहयोग से मानवी प्रयास और संसाधन दोनों के अपव्यय से बचा जा सकता है। समग्र संसार में यदि इस प्रकार सहयोग हो, तो विश्व राज्य उत्पन्न होगा ऐसा विचारकों ने सोचा। परन्तु वैश्विक शासन (World government) के सम्बन्ध में श्रीगुरुजी का चिन्तन अन्य विचारकों के चिन्तन से बहुत कुछ भिन्न था। हम जानते हैं कि दोनों विश्व युद्धों के बाद राष्ट्रसंघ (League of Nations) और संयुक्तराष्ट्र संगठन (U. N. O.) नामक विश्व संस्थाएँ बनीं। किन्तु इन्हें वैश्विक शासन नहीं

कहा जा सकता, क्योंकि ये विश्व संगठन होते हुए भी इनका प्रयोग संसार के बड़े राष्ट्रों की दासी के रूप में हो रहा है।

महाराज्य नहीं, विश्व सहयोग

अपरंच, विश्वराज्य के सम्बन्ध में पूर्वगत विश्व-विजेताओं की धारणा भी भिन्न थी। सिकन्दर, सीजर और (यूरोप तक सीमित) नेपोलियन का भी विचार विश्वराज्य का था। परन्तु इनकी विश्वराज्य की कल्पना महाराज्य (Empire) की थी। Empire माने साम्राज्य नहीं। Empire अर्थात् एक ही शासन केन्द्र हो, उस शासन केन्द्र के अधीन संसार के सब लोग रहें। समस्त संसार पर आधिपत्य चले ऐसे शासनकेन्द्र की कल्पना को Empire या महाराज्य कहते हैं। यह कल्पना हमारी हिन्दू परम्परा में नहीं है। हमारे यहाँ 'साम्राज्य' अथवा 'चक्रवर्तित्व' का आदर्श है। उसके अन्तर्गत आने वाला प्रत्येक राष्ट्र पूर्णतया स्वतन्त्र और सार्वभौम (Sovereign) हो, ऐसी कल्पना है। सभी राष्ट्रों और समाजों के परस्पर सम्बन्धों के लिए सहायक, परस्पर सहयोग को दृढ़ बनाने वाला, परस्पर सम्बन्धों का नियमन करने वाला विश्व केन्द्र अर्थात् वैश्विक शासन या विश्वराज्य (World Government), ऐसी हमारी कल्पना है। श्रीगुरुजी की कल्पना थी कि ऐसे विश्व केन्द्र के अन्तर्गत, अपने-अपने सार्वभौम अस्तित्व को यथावत् रखकर, परस्पर सहयोग के आधार पर सभी राष्ट्रों के राज्य एक-दूसरे के साथ व्यवहार कर सकेंगे। 'चक्रवर्तित्व' की कल्पना का उन्होंने इस पद्धति से मण्डन किया।

राष्ट्र एवं राज्य

वैश्विक शासन (World Government) की सहायता से

मानवजाति में परस्पर सहयोग निर्माण करना अति आवश्यक होते हुए भी निकट भविष्य में वह सम्भव नहीं है। कारण, उसके लिए व्यक्ति, समाज और राष्ट्रों की मनोवृत्ति में कुछ मौलिक परिवर्तन होना आवश्यक है। निकट भविष्य में इसके होने की सम्भावना कम है। राष्ट्र और राज्य को एक मानने की कतिपय पाश्चात्य विचारकों की पद्धति मूलतः सदोष है। राष्ट्र और राज्य अनेक बार समव्याप्त (co-extensive) रहते हैं। परन्तु फिर भी राष्ट्र माने राज्य नहीं है। योगी अरविन्द ने कहा है—The State is not the Nation—राज्य कभी राष्ट्र नहीं होता। इतने ही आग्रह से श्रीगुरुजी ने कहा है कि राष्ट्र भिन्न है और राज्य भिन्न है। राज्य (State) एक निर्जीव तन्त्र (mechanism) या अस्तित्व (entity) है, जबकि राष्ट्र एक जीवमान अस्तित्व (living organism) है। इसके अन्तर को भलीभाँति समझना होगा। राज्य की एक आदर्श अवस्था है। हिन्दुओं ने उस अवस्था का वर्णन किया है—"न राज्यं नैव राजाऽसोत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।" इस प्रकार का शासनविहीन समाज ही वह आदर्श रचना है। पाश्चिमात्य देशों में भी वामपन्थी (leftist) विचारकों ने शासनविहीन समाज का विचार प्रतिपादित किया है। वहाँ इस विचार को अराजकतावाद (Anarchism) का नाम दिया है। इस दृष्टि से हमारे सामने तीन प्रमुख विचारकों के नाम आते हैं—प्रूधां (Proudhan), बाकुनिन (Bakunin) और क्रोपोटकिन (Kropotkin)।

शासनविहीन समाज

इन विचारकों का कहना है कि शासनविहीन समाज का

निर्माण करना हो तो उसके लिए आज के राज्य-यन्त्र (State apparatus) को तोड़-फोड़ कर गिराना होगा। एक बार यह लड़खड़ा जाय तो फिर उसमें से अपने-आप शासनविहीन समाज की निर्मिति होगी। इस समाज की रचना के विषय में क्रोपोटकिन का कहना है कि इसमें शासन नहीं होगा, किन्तु विविध स्वायत्त संगठन (Self-organisations) होंगे। एक प्रकार का काम करने वाले, एक ही उद्योग के कार्मिकों का एक-एक समूह, इस प्रकार विभिन्न समूह—स्वायत्त, स्वयंशासित और परस्पर सहयोग से जीवन चलाने वाले (mutually co-operative) ये स्वायत्त संगठन अपना काम स्वयं देखेंगे और सार्वजनिक कार्यों के लिए परस्पर सहयोग और सहायता करेंगे। यह है उनकी शासनविहीन समाज की रूपरेखा।

परन्तु कार्लमार्क्स का कहना है कि क्रान्ति के बाद अपने-आप शासनविहीन समाज का निर्माण होगा। यह कथन सम्यक् नहीं है। उसने साम्यवाद की उच्चतर अवस्था (higher state of communism) की कल्पना का प्रतिपादन किया है। क्रान्ति के अनन्तर समाज की रचना कैसे हो, इस बारे में कार्लमार्क्स की कल्पना उपरिलिखित क्रोपोटकिन की कल्पना से मेल नहीं खाती। कार्लमार्क्स का मत है कि अराजकतावाद का विचार अपूर्ण है, क्योंकि आज के राज्य-यन्त्र के मात्र लड़खड़ा कर टूट जाने से उसके बाद निर्मित शासनविहीन समाज अपने आप काम कर सकेगा, यह असम्भव है। उसके लिए समाज की एक 'विशिष्ट अवस्था' आवश्यक है।

श्रीगुरुजी को भी यह कल्पना अमान्य थी कि क्रान्ति के अनन्तर अपने-आप शासन-विरहित समाज निर्माण होगा। हिन्दू

परम्परा के अनुरूप उनका भी विचार था कि शासनविरहित समाज निर्माण होने के लिए समाज की एक 'विशिष्ट अवस्था' आवश्यक है।

इस अवस्था के स्वरूप के सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा था कि, यह क्रान्ति सर्वहारा (proletariat) की हो। उसके बाद शासन-विहीन समाज की अन्तिम अवस्था के लिए एक क्रान्ति-शक्ति के रूप में सर्वहारा के अधिनायकत्व (dictatorship of the proletariat) में समाज उस शासनविहीन अवस्था के लिए सिद्ध होगा। इतनी सिद्धता होने पर फिर शासन-यंत्र स्वयमेव तिरोहित हो जायगा (State will wither away)। यह जो सर्वहारा का अधिनायक-तन्त्र है वह वायु में अदृश्य हो जायगा, अपने आप को नष्ट कर लेगा, ऐसा मार्क्स का कथन है।

धर्म ही एकमात्र आधार

श्रीगुरुजी इस धारणा को अव्यावहारिक (impractical) मानते थे। उनका कहना था कि स्वयं का अधिकार-क्षेत्र बढ़ाना एवं पकड़ अधिकाधिक दृढ़ करना (self-expansion and self-perpetuation), यह सत्ता का मज्जागत गुण है। अतः एक बार अधिनायक-तन्त्र उत्पन्न होने अर्थात् सत्ता का केन्द्रीकरण होने पर वह सत्ता स्वयं को नष्ट कर लेगी, यह कथन सर्वथा अयुक्तिक होगा। अधिनायक-तन्त्र के माध्यम से शासन-तन्त्र का विलोपीकरण होगा, यह अन्तःविरोधी बात (Self-contradiction) है। परन्तु हमारे देश में शासनविहीन समाज की अवस्था के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—'न राज्यं नैव राजाऽसीत्'। इसकी पूर्व अवस्था क्या थी उसका

वर्णन करते हैं—'धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्।' अर्थात् धर्म के आधार पर सारी प्रजा (लोग) एक-दूसरे की रक्षा करती थी। धर्म कल्पना की यहाँ विशद व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। मजहब या religion अलग बात है, धर्म अलग बात है। "A vast social, industrial, economic scheme" (एक व्यापक सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक योजना) इन शब्दों में भगिनी निवेदिता ने धर्म के एक पहलू को विशद किया है।

ऐसा दिखाई देता है कि इस धर्मप्रवणता तथा उसके द्वारा निर्मित व्यवस्था के आधार पर यह शासनविहीन समाज इस हिन्दुस्थान में किसी समय रह सका। इस धर्म के आधार पर ही शासनविहीन अवस्था सम्भव है, अन्यथा कदापि नहीं! इस धर्मप्रवणता का निर्माण होने में बहुत समय लगेगा। किन्तु आदर्श अवस्था शासनविहीन समाज ही है, और उसका आधार निस्सन्देह केवल धर्म ही हो सकता है।

समाज एवं सरकार

निकट भविष्य में यदि समाज शासनविहीन होनेवाला न हो, तब सहज प्रश्न उपस्थित होता है कि शासन का स्वरूप कैसा हो? शासन की आवश्यकता न्यूनतम रहे, अर्थात् सरकार के अधिकार-क्षेत्र कम से कम हों और व्यक्ति तथा व्यक्तिसमूह की रचनाएँ स्वायत्त, स्वयं शासित हों। समाज अपने स्वयं के आधार पर चले। समाज की अपनी परिपूर्ति (fulfilment) के विविध साधनों में से एक साधन सरकार है। सरकार को साध्य और समाज को उसका संसाधन (human resource) मानना भूल है। समाज ही साध्य है, और उसके अनन्त साधनों में से सरकार

एक साधन मात्र है। इस दृष्टि से सरकार या शासन के रूप (form) के सम्बन्ध में कोई आग्रहपूर्ण विचार रखना योग्य नहीं। विभिन्न परिस्थितियों में शासन के विभिन्न रूपों (forms of government) की उपयोगिता हो सकती है। साधारण परिस्थिति में विकेन्द्रीकरण (decentralisation) रहे, किन्तु यदि केन्द्रीकरण आवश्यक हो तो अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग विचार कर शासन का रूप निश्चित किया जा सकेगा। इस बारे में आग्रह रखना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है।

व्यक्ति एवं समाज

राज्य की रचना में व्यक्ति तथा राज्य, व्यक्ति तथा राष्ट्र, व्यक्ति तथा समाज (अर्थात् राष्ट्रीय समाज)के परस्पर सम्बन्ध क्या हों? इस विषय पर पश्चिम में बहुत चिन्तन हुआ है। जब उधर यह विचार हो रहा था, तब हमारे यहाँ इस बारे में नये सिरे से सोचने की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि इन सभी बातों पर परिपक्व चिन्तन हमारे यहाँ पहले ही हो चुका था। हिन्दुराष्ट्र एक सनातन राष्ट्र होने तथा उसके परिपक्वता-प्राप्त होने के कारण जिस कालखण्ड में पश्चिम के लोगों ने अनेक वादों (isms) का जंजाल खड़ा किया, उससे बहुत पूर्व इन सब के विषय में समग्र चिन्तन हमारे यहाँ हुआ था। पश्चिम में व्यक्ति के राज्य, समाज और राष्ट्र से सम्बन्ध क्या हों यह विचार का एक विषय था। हमारे यहाँ व्यक्ति और इन इकाइयों के सम्बन्धों का विचार करते समय इन सबको जोड़ने वाली एक शृंखला का अस्तित्व माना गया है। इस शृंखला में

विभिन्न, पृथक्, जीवमान घटक (organisms) हैं। व्यक्ति को यदि सीधे सम्पूर्ण समाज से सम्बद्ध कर विचार किया जाय तो उसे ग्रहण करना कठिन होगा। अतः व्यक्ति को समाज से जोड़ने वाली कतिपय कड़ियाँ होनी चाहिएँ। रक्त के आधार पर 'परिवार' एक जीवमान घटक है। ऐसे एक-एक घटक को कार्य के आधार पर जोड़नेवाले व्यावसायिक संघ (professionl groups) हैं। इन दो कड़ियों का विशेष रूप से विचार करना चाहिए, ऐसा हिन्दू विचारकों का मत है। व्यक्ति, परिवार, व्यावसायिक संघ, समाज, राज्य, राष्ट्र की कड़ियाँ स्वाभाविक रूप में निर्माण होती हैं। अतः आवश्यकता है इनके परस्पर सम्बन्ध क्या हों, इस विषय में सर्वंकष विचार करने की।

विभिन्न सामाजिक घटकों (Social organisms) को एक दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र तथा परस्पर असम्बद्ध मानकर इन सबके विषय में विचार करना पश्चिम का ढंग (fashion) है। अतः जब उन्होंने व्यक्ति और समाज का विचार किया तथा राज्य और राष्ट्र के बारे में सोचा, तब उनमें चर्चा होने लगी कि व्यक्ति का हित अलग है और समाज या राष्ट्र का हित अलग। इन दोनों हितों में विरोध और संघर्ष है। अतः सोचा जाने लगा कि व्यक्ति के हित और विकास का क्षेत्र अधिक हो या समाज और राज्य के हित और विकास का क्षेत्र अधिक हो। इस चर्चा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर किसी ने कहा कि व्यक्ति के विकास का क्षेत्र अधिक व्यापक हो, तो अन्य लोगों ने सामाजिक अनुशासन के नाम पर प्रतिपादन किया कि समाज या राज्य का अधिकार-क्षेत्र अधिक हो। इस प्रकार व्यक्ति और समाज इन दो घटकों में खींचतान आरम्भ हुई।

श्रीगुरुजी का कहना था कि ये सभी कड़ियाँ, घटक परस्पर पूरक हैं।

विरोध नहीं, क्रमिक विकास

बीज, अंकुर, पेड़ का तना शाखा, पत्ते, फूल और फल यद्यपि दिखने में भिन्न हैं, फिर भी वे क्रमिक विकास में से दृश्यमान होते हैं। क्रमिक विकास की जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं उनका यह दृश्य स्वरूप हमें अलग-अलग रूपों में दिखाई देता है। यह मानना भूल होगी कि बीज और अंकुर के बीच झगड़ा है, तने और शाखा के मध्य संघर्ष है या शाखा और पल्लव परस्पर विरोधी हैं। तब फिर फूलों का अधिकार-क्षेत्र (jurisdiction) अधिक हो या फलों का, यह विचार भूल होगा, बचकाना होगा। यह क्रमिक विकास है। इसी पद्धति से व्यक्ति से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तक जो विभिन्न घटक (organisms) हैं, उनकी भी विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, और प्रत्येक व्यक्ति की चेतना (consciousness) का यह विकास जिस प्रकार एवं जितनी मात्रा में हुआ हो, उसी मात्रा में उसका अधिकार मानना चाहिए। व्यक्ति जब जन्म लेता है तब उसकी चेतना का अस्तित्व भी प्रायः आभासित नहीं होता। कुछ बड़ा होने पर उसमें चेतना विकसित होती है। प्रारम्भ में 'मैं' और 'मेरा' यही उसकी चेतना होती है। शनैःशनैः वह 'परिवार' से संलग्न होता है। विकास के इस क्रम में मित्र-मण्डली, विद्यालय, नगर आदि से होते हुए वह अपने राष्ट्र से एकात्म होता है। एकात्म-बोध का विस्तार होते-होते वह मानवता और आगे चलकर 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' की उस अवस्था को प्राप्त हो जाता

है, जो हमारे यहाँ संन्यासी की अवस्था मानी गयी है। व्यक्ति की चेतना, उसके एकात्म-बोध का जितना विकास हुआ हो उतना उसका अधिकार है। वह उस-उस घटक से एकात्म हो जाता है। किन्तु उच्चतर घटकों से एकात्म होने पर भी शेष निम्नतर सभी सामाजिक घटकों (Social organisms) से उसकी एकात्मता, एकरूपता समाप्त नहीं हो जाती। व्यक्ति स्वयं से एकात्म होने के साथ-साथ वैसी ही एकात्मता अन्य व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता, समग्र सृष्टि तथा ब्रह्माण्ड से भी रख सकता है।

'अखण्ड-मण्डलाकार' समाज-रचना

इस प्रकार के व्यक्ति-विकास को हमारे यहाँ 'अखण्ड मंडलाकार' कहा गया है। यह रचना कुन्तल (spiral) जैसी है। वह संकेन्द्रिक (concentric) नहीं है। पश्चिम की प्रणाली संकेन्द्रिक है, तो हमारी कुन्तलाकार (spiral) है। इस प्रकार का क्रमिक व्यक्ति-विकास और तदनुरूप सुसम्बद्ध समाज-रचना हो। हिन्दू विचारकों ने व्यक्ति, परिवार और संघ (कर्मगत समूह) में से संघ को महत्वपूर्ण माना है। परिवार और संघ व्यवस्थित हों, अनुशासनबद्ध हों। समाज की रचना में भिन्न-भिन्न व्यवसाय, भिन्न-भिन्न कर्म करने वाले लोगों के भिन्न-भिन्न संघ (कर्मगत समूह) हों।

स्वायत्त व्यावसायिक संघ

हमारे यहाँ जाति-व्यवस्था की बड़ी निन्दा की जाती है। वास्तव में जो 'जाति-व्यवस्था' पूर्वकाल में थी, वह आज अस्तित्व में नहीं है। 'जाति-भेदों' को बढ़ावा दिया अंग्रेजों ने।

वस्तुतः आज वे जाति-भेद भी अस्तित्व में नहीं हैं। आज जो है वह है 'जातिवाद' (casteism), और वह भी अत्यन्त विकृत (perverted) स्वरूप में है। पश्चिम में जिस प्रकार कर्मगत व्यक्ति-समूह निर्माण हो रहे हैं वैसे ही शनैः-शनैः हमारे यहाँ भी होंगे। पूर्वगत जाति-व्यवस्था नष्ट हो गयी है, आगे की व्यवस्था अभी पूर्णतया निर्माण हुई नहीं है; पर वह निर्माण हो रही है और होगी। इस प्रकार के व्यावसायिक संघ (professional groups) निर्माण हो रहे हैं, वे सुव्यवस्थित निर्माण होने चाहिएँ। जैसे व्यावसायिक संघ (trade unions), वाणिज्य मण्डल (chambers of commerce), चिकित्सक संघ (medical association) अथवा अभियन्ता संस्थान (engineers' institute) हैं, वैसे ही विभिन्न कर्मों पर आधारित व्यावसायिक समूह हैं, उन्हें सुचारू रूप से संगठित किया जाय। यह एक प्रक्रिया (process) है, उसे गतिमान (accelerate) किया जाय। व्यावसायिक संघों की कल्पना प्राचीन है। स्वायत्त, स्वयं-शासित और परस्पर सहयोग से चलने वाले इस प्रकार के कार्य-समूह (functional groups) हों। पश्चिम में अनेक विचारकों ने व्यावसायिक संघों के महत्व और समाज-रचना में उन्हें आधारभूत मानने की प्रक्रिया पर आग्रह किया है। इस प्रक्रिया को 'श्रमिक संघवाद' (syndicalism) कहा जाता है।

श्रीगुरुजी के विचार में शासनविहीन समाज और उसमें व्यावसायिक संघों की रचना अभिप्रेत थी। पश्चिम में 'श्रेणी समाजवाद' (Guild Socialism) नाम से एक अन्य विचार चला है। उसमें माना जाता है कि व्यावसायिक संघ रहें; वे स्वायत्त, परस्पर सहयोगी हों, परन्तु वे राज्य के, सरकार के अन्तर्गत

हों, इस प्रकार की समाज-रचना हो। श्री गुरुजी का विचार था कि सामान्य परिस्थितियों में समाज के विभिन्न घटकों (इकाइयों) को अधिकतम स्वायत्तता रहे, केवल आपद्धर्म (emergency measure) के नाते सत्ता का केन्द्रीकरण किये जाने में आपत्ति नहीं।

व्यक्ति-विकास

इन सबका आधार स्वरूप जो व्यक्ति है, उस व्यक्ति के बारे में सूक्ष्मता से जितना विचार होना चाहिए था, उतना दुर्भाग्य से पश्चिम में किया नहीं गया। उन्होंने तो सैनिकीकरण (regimentation) की पद्धति से यह विचार किया।

वास्तव में व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए, उस विकास के लिए अनुकूल परिस्थिति और काम उसे उपलब्ध होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार यदि उसे काम मिला तो उसके विकास के लिए वह सहायक होगा और फिर उसे लगने लगेगा कि काम और विश्राम दोनों एक-सी दशाएँ हैं। इस दृष्टि से प्रवृत्ति के अनुसार काम मिलने पर जो उत्पादन होगा वह उसकी समग्र शक्ति के द्वारा होगा, गुणवत्ता (quality) भी उत्तम रहेगी। ऐसा होना स्वाभाविक है। इस प्रकार जब सब व्यक्ति काम करेंगे और वह काम राष्ट्र-समर्पित होगा, तब सकल काम की प्रमात्रा (quantum) और सकल राष्ट्रीय आवश्यकताओं (total national requirements) में समन्वय साधा जा सकेगा। इसी को 'समग्र नियोजन' (Total Planning) कहा जाता है। इससे अधिकतम और उत्कृष्ट उत्पादन होगा और आवश्यकता के अनुरूप अधिकतम पूर्ति

होगी। इन दोनों का सुन्दर समन्वय हो सकेगा। प्रत्येक मनुष्य को केवल रिक्ति (vacancy) के अनुसार काम (Job) मिलने लगा तो प्राय: 'गोल छेद में चौकोर खूँटी' (a square peg in a round hole) ठोकने वाली बात होगी और परिणामत: उसमें से जो उत्पादन होना चाहिए वह पूरा होगा नहीं। अत: उक्त आदर्श रचना का यद्यपि तत्काल पूर्णतया निर्माण होना सम्भव न भी हो, तो भी जितनी मात्रा में सम्भव हो उतनी मात्रा में निर्माण की जाय, यही योग्य है।

न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति

व्यक्ति को चौबीस घण्टे यदि अपने उदर-भरण के लिए ही काम करने पड़े, तो आर्थिक या भौतिक विकास छोड़कर उसका अन्य विकास अवरुद्ध हो जाएगा। उसके लिए प्रत्येक को आवश्यक अवकाश प्राप्त होना चाहिए। जब ऐसा अवकाश मिलेगा तब वह सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विषयों की ओर जाएगा। अवकाश का उपयोग करना जो जानते हैं उनके लिए अवकाश मिलना अत्यन्त लाभप्रद होगा। अत: प्रत्येक को अपने विकास के लिए न्यूनतम जीवनावश्यक वस्तुएँ सरलता से प्राप्त हों, उनकी प्राप्ति की चिन्ता से वह मुक्त हो और सम्पूर्ण समाज का उत्कर्ष हो; इस दृष्टि से अर्थरचना बने, ऐसा श्रीगुरुजी का मत था।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा:

निजी सम्पत्ति (private property) के बारे में श्रीगुरुजी का विचार मण्डन हिन्दू परम्परा के अनुसार था। राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Labour Commission) को प्रस्तुत किये

जाने वाले ज्ञापन की प्रश्नावली का उत्तर देते समय मैंने उनका मत पूछा तो उन्होंने कहा—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

अर्थात् अपना पेट भरने के लिए जितनी आवश्यक हो, उतनी सम्पत्ति रखने का व्यक्ति को पूर्ण अधिकार है। इससे अधिक सम्पत्ति जो रखेगा वह चोर है, अपराधी है और इसलिए दण्ड का पात्र है। जो कुछ सम्पत्ति होगी वह परमात्मा की है—'ईशावास्यमिदं सर्वं···।' और मनुष्य को उसे 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' की कल्पना के अनुसार सब कुछ समाज को समर्पित कर समाज ने जो कुछ हमारे लिए रखा हो उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए, ऐसा हमारा चिन्तन है।

निजी सम्पत्ति का अधिकार

निजी सम्पत्ति के विषय में विभिन्न देशों में विभिन्न अत्यर्थ (extreme) बातें बोली जाती हैं। एक ओर नितान्त मुक्त उद्यम (free enterprise) की कल्पना है। उसमें संचालक जितना कुछ कमाते हैं उस सबका स्वयं उपभोग करते हैं। दूसरी ओर माना जाता है कि किसी की कोई निजी सम्पत्ति नहीं है। यद्यपि ऐसा कहने वाले लोगों ने भी अब बहुत सुधार (modifications) किये हैं। सोवियत संघ के संविधान की १०वीं धारा में निजी सम्पत्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि, यदि आप अधिक अर्हता-प्राप्त (qualified) हों, आपने अधिक काम किया हो, आप में अधिक गुणवत्ता (merit) हो, तो आपकी और अन्य साधारण श्रमिक की आय में जो अन्तर हो उसे आप अतिरिक्त आय (extra-

income) के रूप में अपने नाम से सुरक्षित रख सकते हैं और आपका पुत्र उस पर उत्तराधिकार बता सकता है। माओ ने भी चीन में निजी सम्पत्ति अद्यापि पूर्णतयॅा निषेधित नहीं की है। उसने निजी सम्पत्ति के दो प्रकार माने हैं। एक, जिसे मनुष्य जीविका के साधन (means of livelihood) के रूप में प्रयोग करता है और दूसरी जो लोगों के शोषण से अथवा शोषण के लिए उत्पन्न होती है। इस दूसरी सम्पत्ति का माओ ने निषेध किया है। परन्तु जीविका के साधन स्वरूप जो सम्पत्ति हो उसे निषेधित करने की आवश्यकता नहीं, ऐसा माओ का वर्तमान चिन्तन है। मार्क्स ने भी छोटे शिल्पकारों (artisans) अथवा हस्त-शिल्पियों (handicraftsmen) के बारे में यही कहा है कि हम बड़े लोगों की निजी सम्पत्ति को नष्ट करने वाले हैं, पर छोटे लोगों के बारे में विचार करने की आवश्यकता नहीं है। कारण नवीन औद्योगीकरण तीव्र गति से आ रहा है, जिससे यह वर्ग नष्ट होने ही वाला है। अतः मार्क्स ने उसके बारे में स्पष्ट कुछ कहा नहीं है।

न्यासी कल्पना

स्वामित्व (ownership) के सम्बन्ध में श्रीगुरुजी का मत था कि स्वामित्व ईश्वर का है। जिसके पास भी जो सम्पत्ति हो, उसे समाज अथवा ईश्वर ने केवल उसका न्यासी (trustee) नियुक्त किया है। अतः स्वामी के स्थान पर न्यासी की कल्पना श्रीगुरुजी को मान्य थी। महात्मा गांधी ने भी न्यासी-वृत्ति (trusteeship) की कल्पना रखी थी, किन्तु उनकी कल्पना में श्रीगुरुजी अपूर्णता अनुभव करते थे। उन्होंने उसे व्यक्त भी

किया था। अपूर्णता यह है कि स्वामी हो या न्यासी, देश में उत्पादन का जो वितरण हो, उस वितरण-प्रणाली में यथार्थ-वादिता (rationalisation) होना आवश्यक है। उसका विचार गांधीजी द्वारा समुचित किया नहीं गया। सम्भव है उस समय महात्माजी को वह विचार करने की तीव्र आवश्यकता न लगी हो। न्यासी कल्पना के विषय में महात्माजी ने कहा है कि सम्पत्ति के विनियोग की बात न्यासी की सद्-असद् विवेक-बुद्धि पर छोड़ना चाहिए। अर्थात् जिसकी सम्पत्ति, उसी के पास रहे। फिर सम्पत्ति का प्रयोग वह न्यासी बन करे या न करे, यह उसके हृदय-परिवर्तन पर निर्भर रहे। परन्तु श्रीगुरुजी की धारणा थी कि इसके लिए कोई वैधानिक प्रणाली (legal mechanism) होनी चाहिए।

श्रमिक सहस्वामित्व

वर्तमान में जो औद्योगीकरण चल रहा है उसमें औद्योगिक समता के बारे में विचार करने की आवश्यकता श्रीगुरुजी ने अनुभव की। पूर्वकाल में प्रमुखता से स्व-नियोजन (Self-employment) की पद्धति चलती थी। हमारे यहाँ मालिक-मजदूर सम्बन्ध प्रायः नहीं थे। राज्य से सम्बन्धित कुछ लोग छोड़ दिये जायें तो सब जन स्व-नियोजित (self-employed) थे। बढ़ई (सुतार), चमार, नाई किसी के न मालिक थे और न मजदूर। परन्तु आधुनिक औद्योगीकरण में ये मालिक-मजदूर सम्बन्ध आये हैं। श्रीगुरुजी सोचते थे कि देश के प्रत्येक उद्योग में जिस अनुपात में धन को पूंजी माना जाता है उसी अनुपात में श्रम को भी पूंजी माना जाय। प्रत्येक के श्रम का मूल्य पूंजी की परिभाषा में

किया जाय। अर्थात् श्रमिक को श्रम की पूंजी लगाने वाला अंश-धारक (Shareholder) माना जाय। किसी उद्योग में शारीरिक श्रम (Manual labour) करने वाले मजदूर हों, तो उन सब मजदूरों को मिलाकर उत्पादन में शारीरिक श्रम का कितना व्यक्तिगत अंश (Individual share) बनता है, उसे निर्धारित करना होगा। प्राविधिक (technical) और प्रबन्धक (managerial) संवर्ग (cadre) मिलाकर कितना अंश (share) हो, उसे निर्धारित करना होगा। प्राविधिक और प्रबन्धक संवर्ग की संख्या कम और मजदूरों की संख्या अधिक होगी। अतः प्राविधिक-प्रबन्धक संवर्ग का उद्योग में जो योगदान (contribution) है उसके अनुसार प्रत्येक का व्यक्तिगत अंश बड़ा और मजदूर यदि केवल श्रम करता हो तो उसकी संख्या अधिक होने से प्रत्येक का व्यक्तिगत अंश छोटा होगा। परन्तु प्रत्येक संवर्ग का सबका मिलाकर अंश निर्धारित कर तदनुसार उस संवर्ग में अंश का वितरण हो। इस प्रकार प्रत्येक को कल्पना हो कि वह अंश-धारक अर्थात् उद्योग के स्वामित्व में सहभागी है। इससे उद्योग ठीक चलेंगे और औद्योगिक शान्ति और उत्पादन-वृद्धि का भरोसा रहेगा। इस प्रकार एक सम्यक् विचार श्रीगुरुजी ने हमारे सामने रखा है।

भारतीय संविधान

हमारे शासकीय संविधान के प्रति सभी देशभक्तों की भांति श्रीगुरुजी ने अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी। परन्तु इतर राष्ट्रों के संविधानों का अनुकरण कर, कुछ यहाँ का कुछ वहाँ का लेकर भानमती का कुनबा जोड़कर जो संविधान बनाया गया है उसके

स्थान पर एक संहत (compact) और एकात्म (integrated) संविधान होता, जिसकी जड़ें भारतीय भूमि में होतीं, तो ठीक होता, ऐसा वे सोचते थे।

हिन्दू प्रणाली का जनतन्त्र

जनतन्त्र के बारे में श्रीगुरुजी का विचार था कि वह हिन्दू प्रणाली का हो तो अच्छा। पंचायत राज्य से लेकर संसद तक की संस्थाओं की रचना के सम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रतिपादित किये हैं। पंचायत राज्य तो आवश्यक है, किन्तु अभी केवल उसकी विडम्बना चल रही है। इस पद्धति में यदि एक आवश्यक परिवर्तन करा लिया जाय तो बहुत-सी क्रान्ति होगी। वह परिवर्तन अर्थात् पंचायतों में प्रमुख का चुनाव बहुमत-अल्पमत के आधार पर न कर सर्व-सम्मति से किया जाय। इसके अत्यन्त दूरगामी परिणाम होंगे। निर्वाचन यदि सर्व-सम्मति से होना हो, बहुमत से नहीं, तो गुटबाजी (factionalism) की सम्भावना प्रायः समाप्त होगी।

जनतन्त्र की वर्तमान प्रणाली की त्रुटियों को जानते हुए भी आज की स्थिति में वह न्यूनतम दोष वाली शासन प्रणाली है, इस विचार से श्रीगुरुजी भी सहमत थे।

आज के जनतन्त्र में प्रादेशिक क्षेत्र और उनमें रहने वाली जनता के प्रतिनिधित्व का ही मात्र विचार है। जहाँ तक विधान सभा, संसद का प्रश्न हैं, यहाँ केवल इङ्गलैण्ड की भांति क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व (territorial representation) है। एक क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। इसके साथ कार्याधारित प्रतिनिधित्व (functional representation) जोड़ दिया जाय। अर्थात् उद्योगशः

अथवा कर्मशः प्रतिनिधित्व भी रहे। आज की विधान मण्डलों की सदस्य संख्या यदि वही रखनी हो, तो क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व में मतदाताओं की संख्या में वृद्धि की जाय। प्रत्येक सदस्य अधिक लाख मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करे। इससे कुछ स्थान रिक्त होंगे, जिनमें कर्मगत प्रतिनिधि (functional representatives) लिये जायें। उदाहरण के लिए सोलह लाख रेल कर्मचारी हैं, उनके एक-दो प्रतिनिधि संसद में रहें। व्यापारियों के रहें, किसानों के रहें। किस उद्योग को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाय यह प्रश्न विचारणीय है। परन्तु इन विविध हित-समूहों (interest groups) का प्रतिनिधित्व रहे। श्रीगुरुजी सोचते थे कि आज की विधान सभाओं अथवा संसद में जो संतुलन का अभाव है वह इससे दूर होगा और वहाँ अधिक सन्तुलित विचारविमर्श हो सकेगा।

इस विचार के अनुरूप जनतंत्र की चौखट बनाने में आने वाली समस्याओं का भी उन्हें भान था। वह जानते थे कि इस रचना को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक निर्वाचक मण्डल की पुनर्रचना करना, उद्योगों का, विशेषतः लघु उद्योगों का वर्गीकरण करना, उद्योग-धन्धों के अनुसार मतदाता और निर्वाचक मण्डल के बीच समुचित समन्वय करना, मतदाता द्वारा उद्योग बदलने पर उसके निर्वाचक मण्डल में बदल करने की अनिवार्यता और प्रणाली, महिला मतदाताओं को उद्योगों से जोड़ने की जटिल प्रक्रिया आदि समस्याओं से दो-चार होना पड़ेगा। इसीलिए श्री गुरुजी कहते थे कि इस विषय के विशेषज्ञों को इसमें विशेष ध्यान देकर इन सब समस्याओं के हल ढूंढ कर निकालने चाहिएं।

उद्योगों के अनुसार प्रतिनिधित्व की मूलभूत कल्पना प्रथमतः मान्य हो जाय तो उसके कार्यान्वयन की गुत्थियों को सुलझाना विशेषज्ञों के लिए कठिन नहीं होगा। इसीलिए श्री गुरुजी ने स्वयं अपनी ओर से कोई विस्तृत प्रारूप (blue print) सामने न रख केवल सूत्र का प्रतिपादन किया है। उनकी व्यावहारिक भूमिका थी कि आज ही यदि किसी व्यक्ति अथवा विशिष्ट विचारधारा के व्यक्ति-समूह ने ऐसा कोई प्रारूप प्रस्तुत किया तो इस विषय के स्वाभाविक चिन्तन एवं चर्चाक्रम में उससे बाधा निर्माण होगी।

व्यक्ति-जीवन का ध्येय

इस प्रकार सम्पूर्ण एवं समग्र विचार किया गया तो मानव की प्रगति एवं पूर्ण विकास हो सकेगा। नर से नारायण बनेगा। व्यक्ति का पूर्ण विकास होने के लिए आवश्यक है कि उसे अपने जीवन के ध्येय की सुस्पष्ट कल्पना हो। यह ध्येय हमें हमारी परम्परा ने दिया है। वह है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चार अलग-अलग ध्येय नहीं हैं, प्रत्युत उन चारों को मिलाकर एक ही ध्येय है—यह चतुर्विध (four-fold) ध्येय है।

सामाजिक अनुशासन ऐसा हो कि एक व्यक्ति का विकास दूसरे व्यक्ति के विकास में बाधक न हो। व्यक्ति का विकास, उसकी स्वाधीनता और सामाजिक अनुशासन का समन्वय हो सके, इस दृष्टि से समाज में अनुशासन होना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार पश्चिम में कुछ लोगों ने जनतंत्र और स्वाधीनता के नाम पर स्वेच्छाचार (licentiousness) स्थापित किया अथवा अन्य कुछ ने अनुशासन के नाम पर सैनिकीकरण (regimentation)

निर्माण किया, वैसा नहीं होना चाहिए। अपरच, अनुशासित जनतंत्र (disciplined democracy) और जनतन्त्रात्मक अनुशासन (democratic discipline) के सुदृढ़ आधार पर समाज की रचना होनी चाहिए।

कुछ लोगों ने अपना विचार निरी भौतिकता के आधार पर रखा तो अन्य कुछ लोगों ने भौतिक बातों की पूर्ण उपेक्षा कर अपने विचार का मण्डन किया। हमारी चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना इससे भिन्न है। इस कल्पना में अर्थ और काम ये दो भौतिक (material) बातें हैं, तो धर्म और मोक्ष दो अभौतिक (non-material) बातें हैं। इसमें भौतिक और अभौतिक दोनों बातों का समुचित समन्वय साधा गया है। इतना ही नहीं, प्रत्युत अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के बीच बिठाया (sandwich) किया गया है। चतुर्विध पुरुषार्थ का यह लक्ष्य हमारे यहाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए रखा गया है।

अर्थ-विचार

अर्थ के विषय में श्रीगुरुजी का विचार था कि अर्थ का प्रभाव भी घातक और अभाव भी घातक है। अर्थ के प्रभाव से अनिष्ट बातें निर्माण होती हैं, अर्थ के अभाव से भी अनिष्ट बातें निर्माण होती हैं। इन दोनों का मध्यम मार्ग ग्रहण करना चाहिए। श्रीगुरुजी का अर्थविषयक चिन्तन सन्तुलित, संकलित, सम्यक् एवं सर्वंकष था। इस विषय में दो अतिवादी विचार हमारे देश में, तथा बाहर भी, रखे गये हैं। इनमें से एक है—सम्पूर्ण आर्थिक व्यवहार मुक्त होना चाहिए। इसे मुक्त उद्यम (free enterprise) अथवा अनिर्बद्ध व्यवसाय (Laissez-faire) कहा जाता है।

दूसरा विचार है—व्यक्ति के हाथ में कुछ न रहे, सब कुछ सरकार के नियन्त्रण में हो। ये दोनों प्रकार के केन्द्रीकरण के अतिवादी विचार दोषपूर्ण हैं। श्रीगुरुजी विकेन्द्रीकरण (decentralization) के पक्ष में थे। उनका विचार था कि सत्ता और सम्पदा का केन्द्रीकरण न व्यक्ति के पास हो, न सरकार के पास।

काम विचार

पुरुषार्थ के तीसरे अंश 'काम' के विषय में भी उनके कुछ विचार थे। नैतिक आचरण के विषय में उनका विशेष आग्रह रहता था, किन्तु काम-शक्ति का महत्त्व भी वह जानते थे और उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं ऐसा मानते थे। काम-शक्ति को अनियन्त्रित रहने देना समाज की दृष्टि से घातक है। काम-शक्ति के वास्तविक स्वरूप को न पहचानना भी समाज के हित की दृष्टि से घातक होगा। काम बहुत बड़ी शक्ति है और उसे मान्यता देनी होगी, इसका आग्रह सभी लोगों को रखना होगा। प्रचलित शोभाचार (fashion) के नाम पर नीतिमत्ता को समाप्त करना विनाश के मार्ग को खोल देना होगा।

परन्तु विवाह आदि के विषय में सबके लिए समान नियम लागू करना भूल होगी। काम-प्रवृत्ति के विषय में विभिन्न लोगों का विभिन्न स्तर (level) हो सकता है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(गीता—१८।४२)

अर्थात् ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं—अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर शुद्धि, सहनशीलता, सरलता,

आस्तिक बुद्धि, ज्ञान, विज्ञान और परमात्म तत्त्व का अनुभव। ऐसा जिनका ऊँचा स्तर हो, उनके लिए ब्रह्मचर्य और एकपत्नी-व्रत आवश्यक है। परन्तु साथ-साथ वास्तववादी (realistic) होना भी आवश्यक है, तभी समाज में नैतिकता बनी रहेगी। क्योंकि समाज में विविध प्रकृति के लोग रहते हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥

(गीता—१८।४३)

अर्थात् क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है—शूरता, तेज, धीरता, चतुराई, संघर्ष वा युद्ध से न भागना, दान, स्वामी भाव। ऐसे जो लोग हों, जिनकी काम-प्रवृत्ति स्वभावतः अधिक है, उन्हें भी एकपत्नीव्रत के साँचे में रहने को विवश करना उचित नहीं होगा। यदि ऐसा किया तो नैतिक सन्तुलन बिगड़ेगा। परन्तु उनके भी नैतिक आचरण के विषय में अत्यन्त कठोरता (strictness) बरतनी चाहिए।

मोक्ष कल्पना

मोक्ष का क्या अभिप्राय है? यह एक सुख है। प्रत्येक व्यक्ति सुख के पीछे दौड़ता है। फिर ऐसा क्यों न हो कि यह सुख चिरन्तन, घनीभूत, निरन्तर और त्रिकालाबाधित हो? ऐसा जो चिरन्तन, घनीभूत और अखण्ड सुख है, वही है मोक्ष।

समस्त साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य

श्रीगुरुजी यह मानने को तैयार नहीं थे कि भिन्न-भिन्न उपासना की पद्धतियों में कोई परस्पर विरोध है। सभी उपासना के मार्ग अन्ततोगत्वा अद्वैत की ओर जाने वाले हैं। विभिन्न

उपासना-मार्गों का अनुसरण करने वालों द्वारा अपने-अपने मार्ग का सम्यक् आकलन न किये जाने से संघर्ष निर्माण हुए हैं; आकलन करने में कुछ गड़बड़ियाँ हुई हैं, ऐसा उन्हें लगता था। उदाहरण के लिए, ऐसा कहा जा सकता है कि ईसामसीह ने जो विचार प्रतिपादित किया है वह हमारे विचार से भिन्न नहीं है। बाइबल में ईसा ने जो कहा है उसमें अहिन्दु विचार कोई नहीं है। शब्दावली (terminology) भिन्न होगी। मात्र भाषा में अन्तर है। क्योंकि जिन लोगों को वह विचार देना था उनकी मनोधारणा, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भिन्न थी, स्तर भिन्न था। अतः श्रोताओं के स्तर के अनुसार उन्हें शब्दों का प्रयोग करना पड़ा।

ईसा का प्रतिपादन

ईसा ने कहा है—"Glory be to Thy name; My Lord!" (मेरे ईश्वर, तेरा नाम मंगल हो !)। इसी को हमारे यहाँ 'द्वैत' कहा गया है। अथवा उन्होंने कहा है—"I am in my Father, He in You and You in me !" (मैं अपने परमपिता में हूँ, वह तुम में है और तुम मुझमें हो !)। अर्थात् उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' न कहकर इतने शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने ऐसा भी कहा है—"I and my Father are One ! (मैं और परमपिता परमात्मा एक ही हैं !) इसमें उन्होंने 'शांकर अद्वैत' को अपनी भाषा में बताया है। श्रीगुरुजी कहते थे इसे समझ लेना चाहिए।

मुहम्मद साहब का प्रतिपादन

मुहम्मद पैगम्बर के विषय में श्रीगुरुजी की धारणा थी कि उन्होंने जब जो बताया वह उस समय लिखा नहीं गया।

उनके बहुत बाद में उनके विचारों का संकलन हुआ। अपरंच उनके अनुयायियों में समझदारी का अभाव था। उदाहरण के रूप में उन्होंने एक घटना सुनायी। हमें पता होगा कि कुरान में 'तलवार' नामक एक अध्याय है। उसमें अल्लाह ने उन्हें ऐसा साक्षात्कार (revelation) कराया है कि 'यदि केवल शान्ति के मार्ग से जाओगे, तो पूर्व-पैगम्बरों के बारे में जो घटित हुआ उसी का पुनरावर्तन होगा। वह ठीक नहीं है। अतः हाथ में तलवार लेनी होगी।' इस साक्षात्कार का आधार लेकर इस्लाम में सर्वत्र आक्रामक प्रवृत्ति का उदय हुआ। जब तक इस्लामी और यहूदी लोगों में समझौता था तब तक यरुशलम की ओर अभिमुख होकर नमाज पढ़ना चालू था, परन्तु जब यहूदियों ने समझौता भंग किया, विश्वासघात किया, तब शस्त्र उठाना अनिवार्य हो गया। इसी सन्दर्भ में वह साक्षात्कार था और उस विशेष परिस्थिति में वह उचित था। परन्तु उसी को सब देशों और कालों के लिए नियम बनाना (generalisation करना) इस्लाम के अनुयायियों की समझदारी के अभाव का द्योतक था। ऐसा आचरण कर मुहम्मद साहब के शिष्यों ने उनपर घोर अन्याय किया है।

कार्लमार्क्स

कार्ल मार्क्स के बारे में श्रीगुरुजी का मत था कि वह भी एक सम्प्रदाय या मजहब (religion) का प्रवर्त्तक था, और उस पर भी अन्याय हुआ है। वह मानते थे कि यह अन्याय दो प्रकार से हुआ है। मार्क्स अपने नाम से कोई वाद (ism) उत्पन्न नहीं करना चाहता था। वह केवल विचार करने की एक वैज्ञानिक

प्रणाली (a scientific way of thinking) प्रतिपादित करना चाहता था। परन्तु उसके शिष्यों ने उसके विचारों को मार्क्सवाद के रूप में अश्मीभूत (fossilise) कर उस पर सबसे बड़ा अन्याय किया। दूसरा अन्याय याने उसके अनुयायियों, विशेषतः भारत के साम्यवादियों ने मार्क्स को घोर भौतिकतावादी (crude materialist) बना दिया। वस्तुतः मार्क्स ऐसा नहीं था। उसके प्रबन्ध 'The Philosophical and Economic Manuscripts, 1844' की पृष्ठभूमि में नीतिशास्त्र (Ethics) ही था। मार्क्स की प्रेरणा नैतिक थी, अर्थशास्त्र को उसने साधन के रूप में प्रयोग किया। इस बात की पूर्ण उपेक्षा कर उसे घोर भौतिकतावादी (Crude materialist) के रूप में प्रस्तुत कर उस पर अन्याय किया गया है। मार्क्स के विचारों को 'वाद' न बनाकर उन्हें यदि विशुद्ध रूप में वैज्ञानिक विचार-प्रणाली बने रहने दिया जाता, तो वे अन्तिम सत्य तक अवश्य पहुँच जाते और फिर उनका और हमारा मार्ग एक-सा ही रह जाता, इसमें सन्देह नहीं है। मार्क्स के विचारों से मौलिक मतभेद होने पर भी उनके बारे में ऐसा एक उदार विचार श्रीगुरुजी रखते थे।

इस प्रकार विभिन्न देशों और समाजों में उत्पन्न हुए श्रेष्ठ पुरुषों के अनुयायियों द्वारा उन पुरुषों को सम्यक् रूपेण न समझे जाने से उन महापुरुषों पर अन्याय हुआ है, ऐसा श्रीगुरुजी का विचार था।

अन्तिम तत्त्व एक ही

यद्यपि विचार भिन्न-भिन्न हों, तथापि जब तक वे विचार मूल भाव (spirit) लेकर चल रहे हैं, तब तक सभी विचारों को

लेकर मनुष्य अपना मार्गक्रमण कर सकता है। जिसकी जो उपासना की पद्धति हो उसपर श्रद्धा रख प्रत्येक अपनी-अपनी पद्धति से उपासना करे। उसमें मतभेद के लिए कोई कारण नहीं। कोई शिव कहेंगे, कोई विष्णु; कोई अल्लाह कहेंगे तो कोई यहोवा; कोई आकाशस्थ पिता (Father in heaven) कहेंगे तो कोई ऊर्जा (energy) अथवा तन्मात्रा (matter) भी कहेंगे। परन्तु अन्तिम तत्त्व एक ही है। 'एकं सत्, विप्राः बहुधा वदन्ति'। इसका दर्शन हमारे द्रष्टाओं ने किया। यदि लोगों के मार्ग में आप कृत्रिम बाधा उत्पन्न न करें, तो लोग अन्तिम सत्य के साक्षात्कार तक पहुँच सकेंगे। 'साधनानाम् अनेकता' ऐसा श्रीगुरुजी का विचार था।

सामाजिक अनुशासन

'साधनानाम् अनेकता' के न्याय से जिसकी जैसी उपासना पद्धति हो उसपर श्रद्धा रख प्रत्येक अपनी पद्धति से उपासना करे। प्रत्येक जिससे अखण्ड, चिरन्तन एवं घनीभूत सुख प्राप्त कर सके ऐसा उसका सम्पूर्ण विकास हो—सच्चा आत्मिक विकास हो। श्रीगुरुजी को लगता था कि ऐसा आत्मिक विकास करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रवृत्त किया जा सके तो किया जाय। सामाजिक अनुशासन ऐसा हो कि एक व्यक्ति की सुख-प्राप्ति के मार्ग में दूसरा बाधा न बने। इस प्रकार के सामाजिक अनुशासन से सम्पन्न एक घटक-समाज अन्य समस्त राष्ट्रीय समाजों से सहयोग और सामंजस्य का व्यवहार करे, जिससे समग्र मानव जाति का सम्पूर्ण विचार करना हमारे लिए सम्भव होगा।

'धर्म' की अपरिहार्यता

चाहे एक व्यक्ति का विकास होना हो और चाहे समस्त व्यक्तियों की अनुशासनबद्ध समाज रचना द्वारा उन सबका आध्यात्मिक विकास होना हो, दोनों ही के लिए धर्म की नितान्त आवश्यकता है। धर्म की आवश्यकता अर्थात् निर्दोष समाज रचना की आवश्यकता। जब तक धर्म-प्रवण अन्तःकरण नहीं होगा, तबतक व्यक्ति का विकास नहीं होगा और समाज की धारणा भी नहीं होगी। राष्ट्रकुल (Comity of Nations) में प्रत्येक राष्ट्र को समग्र मानवता के लिए अपना स्वयं का कुछ न कुछ अंशदान करना है। हमारे अपने राष्ट्र की जो विशेषता अर्थात् अध्यात्म है, उसका अंशदान हमें करना है। अतः समग्र मानवता के लिए जितना अंशदान करना होगा, उसे कर सकने की दृष्टि से आवश्यक मात्रा में प्रत्येक अन्तःकरण को यहाँ धर्म-प्रवण बनाने की आवश्यकता है।

जहाँ पर सामाजार्थिक व्यवस्था (socio-economic order) अच्छी है, वहाँ उसे बनाये रखने के लिए धर्मप्रवण अन्तःकरण की रचना करना आवश्यक है। यह धर्मप्रवणता एक मनोनिष्ठ (Subjective) बात है। सामाजार्थिक व्यवस्था एक वस्तुनिष्ठ (Objective) बात है। मनोनिष्ठ की दृष्टि से धर्मप्रवणता और वस्तुनिष्ठ की दृष्टि से धर्माधिष्ठित सामाजार्थिक व्यवस्था, दोनों आवश्यक हैं।

विचारों का निकष

सामाजार्थिक व्यवस्था का विचार करते समय किसी प्रकार का निषेध (inhibition) न रखते हुए सद्यःस्थिति में जो भी

आवश्यक है उसे ग्रहण करने में कोई भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उसे ग्रहण करते समय 'मानव-कल्याण' इस एकमेव कसौटी पर परखकर ग्रहण करना चाहिए। नयी बातें आएँगी, आने दीजिए! पुरानी जाएँगी, उन्हें जाने दीजिए!! परन्तु ऐसा होते समय सावधान होकर देखिए कि उसके पीछे की अभिप्रेरणा (motivation) क्या है।

धर्माधिष्ठितता

यहाँ के विचारक अथवा स्मृतिकार जो भी कोई नयी समाज रचना यहाँ लाना चाहेंगे, तब तक नहीं ला सकेंगे, जब तक वह नयी समाज रचना धर्माधिष्ठित न हो और यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुकूल न हो।

संस्कार की आवश्यकता

धर्म-प्रवणता निर्माण करनी हो, धर्म-संस्थापना का मार्ग प्रशस्त करना हो, नयी सामाजार्थिक व्यवस्था लानी हो, तो उसके लिए पूर्वगामी प्रतिबन्ध (condition precedent) के रूप में श्रीगुरुजी का विचार था कि, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में समाज के विषय में एकात्मभाव निर्माण हो ऐसे संस्कार प्रत्येक व्यक्ति पर करने की प्रणाली एवं व्यवस्था होनी चाहिए। मैं इस सम्पूर्ण राष्ट्र-पुरुष का एक अंगभूत घटक हूँ, मेरा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं, राष्ट्र यह सम्पूर्ण शरीर है और मैं उसका एक अवयव मात्र, ऐसा अंगांगी भाव उत्पन्न करने वाले संस्कार होने की आवश्यकता है। ये संस्कार मात्र भाषणों अथवा घोषणाओं से हो नहीं सकेंगे। उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को

नित्य कुछ समय एक विशिष्ट वातावरण में लाना नितान्त आवश्यक है।

संघ शाखा : भावी समाज की आधारभूत संरचना

आज की संघ शाखा अर्थात् भविष्य में आने वाली सामाजार्थिक व्यवस्था की आधारभूत संरचना (Infra-structure) है। ऐसी आदर्श समाज रचना के लिए अनुकूल मन की निर्मिति करना संघ-शाखाओं का कार्य है, ऐसी श्रीगुरुजी की धारणा थी। इसमें से जो मन निर्माण हो रहा है, जो अनुशासनबद्ध संगठन खड़ा हो रहा है, वह परम वैभव की ओर जाने की क्षमता से युक्त, समर्थ होगा। इसमें प्रत्येक व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होने की आश्वस्ति (guarantee) है, सम्पूर्ण समाज की धारणा होने का भरोसा है; इतना ही नहीं, अपितु अपने समाज और राष्ट्र द्वारा समग्र मानवता को देय जो अपना वैशिष्ट्यपूर्ण अंशदान (Contribution) है, उसका भी आश्वासन इस संघ शाखा और संगठन में है।

इस प्रकार के सर्वस्पर्शी, भारतीय भूमि में से उत्पन्न, समग्र जीवन के विचारों का सम्पूर्ण सम्यक् दर्शन श्रीगुरुजी ने किया था और द्रष्टा की भाँति उसे दूसरों को कराने का जीवन पर्यन्त उन्होंने प्रयास किया।

अंतरराष्ट्रीय मानक पुस्तक
ISBN : 81-86719-24-5

जागृति प्रकाश
एफ-१०६, सैक्टर-२७, नौएडा-२०१३०१
(दूरभाष : ०१२०-२५३६१०१)